



दैनिक भास्कर

Date: 30-10-26

नशाखोरी पर अंकुश लगाने पैरेंट्स की भूमिका अहम

संपादकीय

नशाखोरी न केवल किसी व्यक्ति पर शारीरिक-मानसिक-आर्थिक असर डालती है, बल्कि पूरे परिवार का सुख-चैन छीन लेती है। पंजाब इसका उदाहरण है। बिहार में दस साल से शराबबंदी कानून है, लेकिन प्रभावी अमल की समस्या के कारण हर रोज औसतन 198 गिरफ्तारियों के बावजूद सैकड़ों लोग नकली शराब पीकर मरते रहे। उधर आसान धन की लालच में किशोर और युवा वर्ग का बड़ा हिस्सा शराब अपराध में लिप्त पाया गया। शराब तस्करी से हासिल धन से हथियार खरीदकर बैंक लूटना, हत्या करना बढ़ गया। ताजा खबर है कि शराब मिलने की दिक्कत और बढ़ी कीमतों से नशेबाज अब ड्रग्स की ओर मुड़ गए हैं। चार साल में एनडीपीएस के मामले तीन गुना बढ़ गए। ड्रग्स की बरामदगी 2022 की कुल बरामदगी से पिछले पांच महीने में तीन गुना हो गई। दरअसल नशाखोरी सामाजिक दोष है, लिहाजा केवल कानून से इससे मुक्ति संभव नहीं। फिर इसके प्रति हर राज्य का समाज अलग तरीके से प्रतिक्रिया देता है। यूरोपीय समाज कम अल्कोहल वाली शराब का सेवन करता है, जबकि भारत में उच्च अल्कोहल वाली शराब पी जाती है। गुजरात में इस बुराई को लेकर अलग भाव है, नार्थ-ईस्ट में अलग। साथ ही, ड्रग्स की सप्लाई पर प्रभावी नियंत्रण भी जरूरी है हर घर में पैरेंट्स ही समय रहते बच्चों को इसके खिलाफ सचेत करें।



दैनिक जागरण

Date: 30-10-26

साइबर ठगी पर सख्ती

संपादकीय



सुप्रीम कोर्ट की यह टिप्पणी सराहनीय है कि यदि साइबर धोखाधड़ी के मामलों में बैंकों की गलती या लापरवाही पाई जाती है तो उन्हें पीड़ित व्यक्ति को भरपाई करनी होगी। यह निराशाजनक है कि बैंक असामान्य लेनदेन को भांप पाने में नाकाम हैं, जबकि उन्हें इसके प्रति अतिरिक्त सतर्कता बरतनी चाहिए, क्योंकि साइबर धोखाधड़ी के मामले थमने का नाम नहीं ले रहे हैं और यह धोखाधड़ी बैंकों के माध्यम से ही हो रही है। साइबर अपराधी फर्जी पुलिस, कस्टम, सीबीआई, ईडी अथवा आयकर अधिकारी के रूप में लोगों को डिजिटल अरेस्ट का भय दिखाकर ठगने में लगे हुए हैं। उनके झांसे में आकर कोई व्यक्ति जैसे ही उनकी ओर से बताए गए खाते में धनराशि ट्रांसफर करता है, वैसे ही वह एक के बाद एक दूसरे खातों में स्थानांतरित होती

जाती है और अधिकांश मामलों में अपराधियों तक पहुंच पाना कठिन हो जाता है। अनेक मामलों में तो यह सामने आया है कि साइबर छल के जरिये हासिल की गई राशि विदेश पहुंच गई। साइबर अपराधी डिजिटल अरेस्ट का भय दिखाकर तो लोगों को ठगने का काम कर ही रहे हैं, उन्हें लालच देकर अथवा बहकाकर भी ठगी कर रहे हैं। इस ठगी में भी बैंक ही माध्यम बनते हैं। इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि साइबर धोखाधड़ी के कुछ मामलों में बैंक अधिकारियों और कर्मचारियों की मिलीभगत पाई गई है। ऐसे कुछ कर्मचारियों-अधिकारियों की गिरफ्तारी भी हुई है। एक विडंबना यह भी है कि बैंक म्यूचुअल खातों की पहचान और निगरानी नहीं कर पा रहे हैं, जबकि साइबर ठगी के लिए ऐसे ही खातों का इस्तेमाल होता है।

इससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि कुछ मामलों में साइबर अपराधी पकड़ में आ जाते हैं और चंद लोगों को छल-छद्म से हड़पी गई राशि भी वापस हो जाती है, लेकिन सच्चाई यही है कि साइबर अपराधियों का दुस्साहस और उनका दायरा बढ़ता चला जा रहा है। अधिकांश मामलों में लोगों को उनकी राशि कभी वापस नहीं मिल पाती। साइबर अपराधी किस तरह बेलगाम हो गए हैं और वे किस बड़े पैमाने पर लोगों को ठगने का काम कर रहे हैं, इसका पता कुछ माह पहले सामने आए इस आंकड़े से लगता है कि अभी तक 54 हजार करोड़ रुपये की साइबर धोखाधड़ी हो चुकी है। यह राशि कुछ राज्यों के बजट से भी अधिक है। यह अच्छा है कि सुप्रीम कोर्ट साइबर धोखाधड़ी के मामलों के प्रति लगातार कठोर रुख अपना चुका है और गत दिवस उसने रिजर्व बैंक के प्रस्तावित केवाईसी संशोधन निर्देशों की समीक्षा करने की भी बात कही, लेकिन उचित यह होगा कि सरकारी एजेंसियां भी अपनी सक्रियता दिखाएं, क्योंकि अभी तक तो साइबर अपराधी उनसे दो हाथ आगे ही नजर आ रहे हैं। यह स्थिति डिजिटल लेनदेन की व्यवस्था पर लोगों का भरोसा कम करने वाली है।

Date: 30-10-26

प्रशासनिक सुधारों को आगे बढ़ाने का समय

आदित्य सिन्हा, (लेखक लोक-नीति विश्लेषक हैं)

विकसित राजस्थान-2047' के लक्ष्य की दिशा में प्रशासनिक रोडमैप को गति देते हुए राजस्थान के मुख्य सचिव ने बीते दिनों भारतीय गुणवत्ता परिषद यानी क्यूसीआइ को शासन के छह विभागों के गहन संस्थागत परीक्षण का जिम्मा सौंपा है। इस कवायद का उद्देश्य कार्यप्रणालियों का विस्तृत खाका तैयार करना, विभागीय प्राथमिकताओं के अनुरूप मौजूदा मानव संसाधन की समीक्षा करना, अंतर-विभागीय दोहराव को समाप्त करना और प्रशासनिक पदानुक्रम के प्रत्येक स्तर पर स्पष्ट जवाबदेही सुनिश्चित करना है। अरुणाचल प्रदेश भी 2025 में प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन कर चुका है। केरलम ऐसी चार कवायदें पहले ही पूरी कर चुका है। यह रुझान दर्शाता है राज्यों ने अपनी प्रशासनिक मशीनरी को चुस्त-दुरुस्त बनाने के प्रयास शुरू कर दिए हैं। जबकि केंद्र सरकार ने 2009 के बाद से ऐसी कोई पहल नहीं की है। ऐसे में बड़ा सवाल यही है कि केंद्र सरकार ने 'विकसित भारत' का नारा तो गढ़ा है, लेकिन वह अपने स्तर पर इस दिशा में कोई ठोस कदम क्यों नहीं उठा रही है?

कई कसौटियों पर प्रशासनिक सुधार आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य हो गए हैं। यह किसी से छिपा नहीं कि सरकारी परियोजनाएं भारी लेट-लतीफी की शिकार हैं। केंद्रीय बुनियादी ढांचा परियोजनाओं की आधिकारिक निगरानी रिपोर्ट दर्शाती है कि 458 परियोजनाओं की स्वीकृत लागत में 5.71 लाख करोड़ रुपये तक की अतिरिक्त बढ़ोतरी हो गई है। ये परियोजनाएं कई महीनों से लेकर दशकों की देरी तक खिंच चुकी हैं। सुधारों की राह में इस पहलू को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि सरकारें सबसे बड़ी मुकदमेबाज बन गई हैं। वर्ष 2025 के अंत तक अदालतों में लंबित 5.39 करोड़ मुकदमों में केंद्र और राज्य सरकारें ही एक पक्ष हैं। स्थिति ऐसी बन गई है कि सरकार का एक विभाग ही दूसरे विभाग के खिलाफ अपील दायर कर रहा है और इस तकरार की कीमत आम नागरिकों के लंबित मामलों को चुकानी पड़ रही है।

सुधारों की राह में तीसरी कसौटी योजनाओं को सुसंगत बनाने की है। केंद्र प्रायोजित योजनाओं का दायरा कागजों पर तर्कसंगत बनाकर 130 से घटाकर 75 मूल श्रेणियों में समेटने का दावा तो किया गया, लेकिन हकीकत यही है कि 2025-26 में इनका बजट 5.4 लाख करोड़ रुपये को पार कर गया। इनमें से तमाम योजनाएं दशकों से चली आ रही हैं, लेकिन उनकी उपयोगिता की व्यापक समीक्षा की सुध पहली बार पिछले साल ली गई है। चौथी कसौटी प्रशासनिक अधिकारियों से ही जुड़ी है। जहां सरकारों के सचिवालय तो बाबुओं से भरे हुए हैं, लेकिन जमीनी स्तर पर अधिकारियों का भारी अभाव है। एक जनवरी 2025 तक आइएएस का लगभग हर पांचवां पद और आइएफएस का हर तीसरा पद खाली पड़ा था। इसका असर जिला स्तर और फील्ड पोस्टिंग में स्पष्ट दिखता है।

पांचवीं कसौटी यही है कि मौजूदा व्यवस्था में किसी के भी काम की जवाबदेही या प्रदर्शन को समग्रता में नहीं आंका जाता। 'रिजल्ट्स फ्रेमवर्क डाक्युमेंट्स' की व्यवस्था ने एक समय सचिव स्तर के शीर्ष अधिकारियों को वार्षिक लक्ष्यों के लिए सीधे जवाबदेह बनाया था, जिनकी स्वतंत्र समीक्षा तीसरे पक्ष से कराई जाती थी। अपने दौर में करीब 80 विभागों को दायरे में लेने वाली यह व्यवस्था 2013-14 के बाद ठंडे बस्ते में डाल दी गई और इसका कोई विकल्प तक तैयार नहीं किया गया। स्पष्ट है कि जो व्यवस्था अपने अधिकारियों की कार्यक्षमता का ही हिसाब नहीं रख सकती तो वह उनके काम की कद्र कर उन्हें पुरस्कृत करेगी? ऐसे में ठोस नतीजों की उम्मीद बेमानी ही कही जाएगी। ऐसा नहीं कि इन विसंगतियों को पहले चिह्नित न किया गया हो। वर्ष 2006 से 2009 के बीच द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग के माध्यम से केंद्र सरकार के स्तर पर 15 रिपोर्ट और 1,514 सिफारिशें प्रस्तुत की गई थीं। इनमें से सरकार ने 1,183 को स्वीकार भी कर लिया था। इनके क्रियान्वयन का अंतिम बार हिसाब मई 2012 में दिया गया था। तब यह संख्या 533 दर्ज की गई थी और उसके बाद कभी इनकी गिनती ही नहीं हुई।

यह सही है कि दिसंबर 2023 तक 1,562 अप्रासंगिक हो चुके पुराने कानूनों को निरस्त किया गया। इसी क्रम में जन विश्वास अधिनियम, 2023 के जरिये 183 प्रविधानों को आपराधिक बंदिश से मुक्त किया गया। वर्ष 2017 के बजट से योजनागत और गैर-योजनागत व्यय का भेद समाप्त कर दिया गया। ये तमाम सुधार ऐसे हैं, जिनसे व्यवस्था के भीतरी तंत्र के विशेषाधिकारों पर जरा भी आंच नहीं आई। जबकि जिन सुधारों को दफन कर दिया गया, वे सत्ता प्रतिष्ठान की मानसिकता को पूरी तरह बेनकाब करते हैं। मंत्रालयों के एकीकरण या उन्हें सुगठित बनाने का यही अर्थ है कि नेताओं के विशेषाधिकारों पर चोट होना। सिविल सेवाओं के लिए एक कड़ा कानून भी अधिकारियों के सुरक्षा आवरण और सुविधावादी रवैये पर आघात करता है। असल में जब कुछ समूह अपने निहित स्वार्थों के लिए लामबंद होते हैं, तो सुधार वहीं दम तोड़ देते हैं। इस क्रम में विशेषाधिकार संपन्न वर्ग अपने मनमाने अधिकारों या विवेकाधिकारों की रक्षा में उतर आता है। भारत में सुधारों का क्रियान्वयन उनकी उपयोगिता या योग्यता से नहीं, बल्कि इस बात से निर्धारित हुआ है कि उनकी आंच किसको झेलनी पड़ेगी।

स्पष्ट है कि सुधारों की राह में परियोजनाओं की पूर्णता को लेकर अनुशासन बरतना होगा। सरकारों को मुकदमेबाजी के चलन से बचना होगा। परियोजनाओं की एक मियाद भी तय करनी होगी। प्रशासनिक अधिकारियों के कैडर का संतुलित रूप से पुनर्गठन करना होगा। हर विभाग का समग्रता में उचित मूल्यांकन सुनिश्चित किया जाए। यदि हमें विकसित भारत के लक्ष्य की पूर्ति करनी है तो अगले दो दशकों तक करीब आठ प्रतिशत की दर से आर्थिक वृद्धि करनी होगी। कोई भी देश जर्जर प्रशासनिक मशीनरी के बूते ऐसा लक्ष्य हासिल नहीं कर पाया है। विकसित भारत का आह्वान तो दिल्ली से हुआ था, लेकिन इसकी शुरुआत जयपुर से होती दिख रही है। प्रशासनिक सुधारों के मोर्चे पर दिल्ली को अब और देर नहीं करनी चाहिए।

Date: 30-10-26

सही इतिहास लेखन की जरूरी पहल

प्रणय कुमार, (लेखक शिक्षाविद् एवं सामाजिक संस्था "शिक्षा-सोपान" के संस्थापक हैं)

हाल में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) ने कक्षा नौ की सामाजिक विज्ञान की नई पाठ्यपुस्तक 'अंडरस्टैंडिंग सोसायटी एंड बियांड, भाग-2' जारी की। यह इतिहास के पुनर्पाठ और पुनर्लेखन की दिशा में महत्वपूर्ण पहल है। यह दिल्ली-केंद्रित इतिहास से बाहर निकलकर भारत की ऐतिहासिक परंपराओं, उपेक्षित राजवंशों और सांस्कृतिक प्रतिरोध की गाथाओं को स्थान देती है। कथित 'गंगा-जमुनी तहजीब' के नाम पर इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में दिल्ली सल्तनत के गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी वंशों तथा मुगलों को अधिक स्थान मिलता रहा, जबकि अहोम, मेवाड़, मराठा और विजयनगर जैसे साम्राज्यों को क्षेत्रीय इतिहास कहकर सीमित कर दिया गया। जिस अहोम साम्राज्य ने छह शताब्दियों तक स्वतंत्रता बनाए रखी, जिस मेवाड़ ने स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया, जिस मराठा शक्ति ने मुगल साम्राज्य के पतन में भूमिका निभाई और जिस विजयनगर साम्राज्य ने दक्षिण भारत में कला, साहित्य और स्थापत्य को समृद्ध किया, उन्हें इतिहास में अपेक्षित स्थान क्यों नहीं मिला? चोल, चालुक्य, पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट और काकतीय राजवंशों की उपेक्षा क्यों हुई?

भारत का इतिहास केवल विदेशी आक्रमणों और पराजयों का वृत्तान्त नहीं है। यह हजार वर्षों तक चले संघर्ष, प्रतिरोध, बलिदान और सांस्कृतिक स्वाभिमान की गाथा भी है। जिस इस्लामी आक्रमण की आंधी ने पश्चिम एशिया की प्राचीन सभ्यताओं के राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वरूप को बदल दिया, उसके सामने भारत ने अपनी सभ्यतागत निरंतरता कैसे बनाए रखी? इसके पीछे हमारी सामरिक शक्ति, सामाजिक संरचना, धार्मिक आस्था और सांस्कृतिक प्रतिरोध की कौन-सी धाराएं सक्रिय थीं? इनका उत्तर तलाशना इतिहास लेखन का अनिवार्य दायित्व है। अपने गौरव, संघर्ष और स्वाभिमान को इतिहास में स्थान देना आखिर अनुचित कैसे हो सकता है? नई पुस्तक में महाराणा प्रताप, दिवेर का युद्ध, सरायघाट में लचित बरफुकन के नेतृत्व में मुगलों की पराजय, मराठों के स्वराज और सिख गुरुओं के बलिदान इसी दृष्टि को पुष्ट करते हैं। रानी नायकी देवी, रानी रुद्रमा देवी और रानी अब्बक्का की वीरता का उल्लेख बताता है कि विदेशी आक्रमणों और औपनिवेशिक विस्तार के विरुद्ध हमारी महिलाओं ने भी अदम्य साहस का परिचय दिया।

हर बार की तरह वामपंथी इतिहासकारों को इस नई पुस्तक में सम्मिलित कथ्यों और तथ्यों से भी आपत्ति है, क्योंकि ये उनके नैरेटिव को चुनौती देते हैं। विडंबना देखिए कि इन वामपंथी इतिहासकारों द्वारा जहां एक ओर रामायण और महाभारत को गल्प बताने, पुराणों को इतिहास न मानने और भारतीय ज्ञान-परंपरा को कालबाह्य सिद्ध करने का पुरजोर प्रयास होता है तो दूसरी ओर अपनी वैचारिक सुविधा के अनुसार साहित्यिक संदर्भों को ऐतिहासिक प्रमाण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। यही दोहरापन देवी दंतेश्वरी, देवी भवानी और अन्य धार्मिक परंपराओं से जुड़ी तलवारों के उल्लेख पर भी दिखाई देता है। बस्तर के राजा, विजयनगर के कुमार कंपन और

छत्रपति शिवाजी महाराज से जुड़ी ऐसी परंपराओं को अंधविश्वास कहकर खारिज करने वाले वामपंथी भूल जाते हैं कि इतिहास केवल युद्धों, संधियों और राजवंशों का विवरण नहीं, बल्कि उन आस्थाओं और प्रतीकों का अध्ययन भी है, जिन्होंने समाज को संघर्ष की प्रेरणा दी। इसे दोहरापन की पराकाष्ठा ही कहेंगे कि जहां यूरोपीय परंपरा में जान आफ आर्क की धार्मिक प्रेरणा अथवा राजा आर्थर की तलवार एक्सकैलिबर से जुड़ी किंवदंतियों का अध्ययन सांस्कृतिक विरासत के रूप में किया जा सकता है, वहीं भारतीय इतिहास में मां दुर्गा, काली और भवानी से जुड़ी आस्था का उल्लेख अवैज्ञानिकता बन जाता है।

नई पुस्तक मंदिरों के विध्वंस के साथ उनके पुनर्निर्माण को भी सामने लाती है। राजा टोडरमल, राजा मान सिंह और देवी अहिल्याबाई होलकर के योगदान से स्पष्ट होता है कि मंदिरों का पुनर्निर्माण केवल स्थापत्य का पुनरुद्धार नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता और सामूहिक आस्था की पुनर्प्रतिष्ठा भी था। सूरदास, तुलसीदास, कबीर और मीराबाई जैसे संतों तथा चैतन्य महाप्रभु के आंदोलन ने कठिन परिस्थितियों में सांस्कृतिक चेतना को जीवित रखा। जब आस्था के केंद्रों पर संकट था, तब भक्ति की धारा ने जनमानस को जोड़े रखा। यह भी प्रतिरोध था, जिसे इतिहास से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यह पुस्तक भारतीय शासन-परंपराओं, प्राचीन गणराज्यों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और भारतीय ग्रंथों में निहित विचारों को आधुनिक लोकतंत्र तथा संवैधानिक व्यवस्था से जोड़ती है। 'सत्यमेव जयते' जैसे प्रतीक और संसद के नए भवन में स्थापित सेंगोल का उल्लेख इसी दृष्टि का उदाहरण है। यह पुस्तक इतिहास के एकपक्षीय आख्यान को व्यापक बनाने का प्रयास करती है वामपंथी इतिहासकारों ने दशकों तक जिन प्रश्नों को हाशिये पर रखा, उन्हें सामने लाना आवश्यक था। एनसीईआरटी ने इस दिशा में कदम बढ़ाया है। इतिहास का उद्देश्य किसी एक विचारधारा के अनुकूल अतीत गढ़ना नहीं, बल्कि साक्ष्यों के आधार पर अतीत को उसके समग्र स्वरूप में समझना है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 30-10-26

डब्ल्यूटीओ के सुधार में भारत निभा सकता है अहम भूमिका

दम्म् रवि

विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की अक्टूबर 2026 में जारी वैश्विक व्यापार रिपोर्ट में एक चौंकाने वाली बात सामने आई है। दुनिया में बढ़ते भू-राजनीतिक तनावों के बावजूद वर्ष 2025 में वस्तुओं के वैश्विक व्यापार की मात्रा में 4.2 फीसदी की वृद्धि हुई जबकि 2024 में यह वृद्धि 2.8 फीसदी थी। रूस-यूक्रेन युद्ध, पश्चिम एशिया का संकट, एकतरफा शुल्क लगाने की नीतियां और होर्मुज स्ट्रेट तथा लाल सागर जैसे समुद्री मार्गों में बाधाओं के बावजूद व्यापार में यह तेजी देखने को मिली।

विश्व व्यापार संगठन की महानिदेशक न्गोजी ओकोंजो-इवेला के अनुसार, आज भी दुनिया का लगभग 72 फीसदी व्यापार, सबसे तरजीही राष्ट्र (एमएफएन) के आधार पर होता है। इससे पता चलता है कि दुनिया के देश अब भी नियमों पर आधारित बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था में भरोसा रखते हैं। हालांकि, इस सकारात्मक तस्वीर के पीछे विकासशील देशों की कई गंभीर समस्याएं छिपी हुई हैं। ऐसे में आज जरूरत केवल विश्व व्यापार संगठन को फिर से मजबूत करने की नहीं बल्कि उसमें जरूरी सुधार करने की भी है।

बुनियादी सिद्धांतों पर पुनर्विचार जरूरी

जब 1995 में विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई थी तब दुनिया को मुख्य रूप से विकसित और विकासशील देशों के दो वर्गों में देखा जाता था। उस समय यह सोच थी कि विकासशील देशों को वैश्विक अर्थव्यवस्था से जुड़ने के लिए विशेष सहायता और कुछ अतिरिक्त छूट दी जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से विशेष एवं विभेदकारी व्यवहार (एसएंडडीटी) का प्रावधान किया गया। इसके अलावा, फैसले आम सहमति से लेने की व्यवस्था बनाई गई। इसका बुनियादी सैद्धांतिक उद्देश्य यह था कि शक्तिशाली देश बहुमत के बल पर कमजोर देशों पर अपनी शर्तें न थोप सकें। लेकिन पिछले 30 वर्षों में वैश्विक अर्थव्यवस्था में काफी बदलाव आया है। ऐसे में इन बुनियादी सिद्धांतों की नए सिरे से समीक्षा करना जरूरी हो गया है।

उभरती अर्थव्यवस्थाओं का प्रभाव

वर्ष 1995 में विकासशील देशों को दी गई विशेष एसएंडडीटी छूट का उद्देश्य सही था। हालांकि, उस समय यह अनुमान नहीं लगाया गया था कि आने वाले वर्षों में देशों की आर्थिक स्थिति में इतना बड़ा बदलाव आएगा। पिछले दो दशकों में उभरती बाजार अर्थव्यवस्थाओं (ईएमई) का प्रभाव तेजी से बढ़ा है। आज करीब 30 बड़ी उभरती अर्थव्यवस्थाएं, वैश्विक अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

विशेष छूट, आम सहमति और एमएफएन

विश्व व्यापार संगठन के कुल 166 सदस्य देशों में विकसित देशों और उभरती अर्थव्यवस्थाओं की संख्या मिलाकर लगभग 60 है। बाकी देशों में कम आय वाले विकासशील देश और सबसे कम विकसित देश शामिल हैं। वैश्विक व्यापार में इन बाकी सभी देशों की संयुक्त हिस्सेदारी 10 फीसदी से भी कम है।

ऐसे में उभरती अर्थव्यवस्थाओं को विकासशील देशों से अलग एक नया वर्ग बनाने का विचार राजनीतिक रूप से संवेदनशील है। इससे विकासशील देशों की एकता कमजोर हो सकती है और वैश्विक मंचों पर उनकी सामूहिक ताकत घट सकती है। विकसित देश लंबे समय से इस बात को रेखांकित करते रहे हैं कि विकासशील देशों के समूह में आर्थिक हितों को लेकर काफी अंतर है। दूसरी ओर, सभी विकासशील देशों की जरूरतें एक जैसी नहीं हैं। जो देश तेजी से विकास करना चाहते हैं, उन्हें अपने विकास के लक्ष्य पूरे करने के लिए अधिक छूट चाहिए। वहीं,

सबसे गरीब देशों को और अधिक रियायतों तथा बाजार तक बेहतर पहुंच की जरूरत है। इसमें उभरती अर्थव्यवस्थाओं के बाजार भी शामिल हैं।

इसका एक रास्ता यह हो सकता है कि उभरती अर्थव्यवस्थाएं अपनी इच्छा से विशेष एसएंडडीटी छूटों का कुछ हिस्सा छोड़ दें। हर देश अपनी आर्थिक क्षमता और सुविधा के अनुसार ऐसा कर सकता है। यदि भारत इस दिशा में पहल करता है तब दूसरे देश भी इससे प्रेरित हो सकते हैं।

भारत बेहद संवेदनशील क्षेत्रों में भी इस बदलाव की अगुआई करने की क्षमता रखता है। फिलहाल भारत सरकार न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) के आधार पर किसानों से अनाज खरीदती है जिसका संबंध कृषि उत्पादों की कीमतों और उत्पादन से जुड़ा होता है। डब्ल्यूटीओ के नियमों के तहत इस तरह की सहायता को सामान्यतः एम्बर बॉक्स में रखा जाता है, जिस पर कुछ शर्तों के साथ सीमाएं लागू होती हैं। इसके बजाय प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (डीबीटी) के जरिए किसानों को सीधे आर्थिक सहायता देने की भारत की व्यवस्था वास्तव में उत्पादन, कीमतों या उत्पादन के साधनों से जुड़ी न हो, तो इसे विश्व व्यापार संगठन के कृषि समझौते के अनुबंध-2 के तहत ग्रीन बॉक्स में रखा जा सकता है। इस श्रेणी की सहायता पर कटौती की बाध्यता नहीं होती।

यही सोच मत्स्य क्षेत्र में भी अपनाई जा सकती है। भारत विश्व व्यापार संगठन में मछली पकड़ने से जुड़ी सब्सिडी पर चल रही बातचीत में ईंधन और मछली पकड़ने वाले जहाजों की क्षमता बढ़ाने वाली सब्सिडी के स्थान पर मछुआरा परिवारों को सीधे आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रख सकता है। इस तरह के सुधारों की दिशा में पहल करने पर भारत को विश्व व्यापार संगठन में विकासशील देशों के हितों की पैरवी करने के लिए अधिक नैतिक बल मिलेगा। इसी तरह, आम सहमति का सिद्धांत भी भले ही अच्छे इरादे के साथ बनाया गया था लेकिन इसमें कुछ बुनियादी खामियां थीं। इस सिद्धांत में यह मान लिया गया था कि सभी सदस्य देशों के हित एक-दूसरे से मेल खाएंगे जबकि उनकी आर्थिक ताकत और विकास का स्तर काफी अलग-अलग है। व्यवहार में इसका नुकसान यह हुआ है कि कोई छोटा देश भी बातचीत रोक सकता है और किसी फैसले पर सहमति बनने में बाधा डाल सकता है। इस तरह की रुकावटों को दूर करने के लिए आम सहमति के सिद्धांत में कुछ बदलाव जरूरी हैं। डब्ल्यूटीओ का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत है तरजीही राष्ट्र यानी एमएफएन। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि सदस्य देश व्यापार में किसी एक देश के साथ भेदभाव न करें और सामान्य तौर पर एक सदस्य को दी गई व्यापारिक सुविधा दूसरे सदस्यों को भी मिले। डब्ल्यूटीओ की महानिदेशक ओकोजो-इवेला लगातार इस बात पर जोर देती रही हैं कि इस व्यवस्था का कमजोर पड़ना एक वास्तविक समस्या है।

लंबे समय में इसका असर यह हो सकता है कि देश एमएफएन व्यवस्था में पैदा हुई असमानताओं की भरपाई के लिए द्विपक्षीय और बहुपक्षीय मुक्त व्यापार समझौतों (एफटीए) की ओर अधिक बढ़ें। इससे उन विकासशील देशों को नुकसान हो सकता है, जो इन समझौतों का हिस्सा नहीं हैं। भारत की सक्रियता से ऐसी व्यापार व्यवस्था बनाने में मदद मिल सकती है, जिसमें विकासशील देशों के हितों का भी ध्यान रखा जा सकता है।

बहुपक्षीय समूहों की पहल व्यापार का अहम हिस्सा

डब्ल्यूटीओ के 11वें मंत्रिस्तरीय सम्मेलन में पहली बार जिन मुद्दों पर कुछ सदस्य देशों के बीच समझौते की पहल हुई थी, वे अब विवाद का विषय बन गए हैं। इनमें निवेश को आसान बनाना, सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यमों (एमएसएमई), ई-कॉमर्स और स्त्री-पुरुष समानता से जुड़े मुद्दे शामिल हैं। भारत का अब तक यह रुख रहा है कि ये मुद्दे सीधे तौर पर व्यापार से संबंधित नहीं हैं। लेकिन आज की परस्पर निर्भर वैश्विक अर्थव्यवस्था में इस तर्क को बनाए रखना लगातार कठिन होता जा रहा है। निवेश, छोटे कारोबार, डिजिटल व्यापार और महिलाओं की आर्थिक भागीदारी का वैश्विक व्यापार से गहरा संबंध है। भारत ने इनमें से कई विषयों पर द्विपक्षीय समझौतों के तहत प्रतिबद्धताएं पहले ही स्वीकार की हैं। इसके बावजूद वह डब्ल्यूटीओ में इन मुद्दों पर बहुपक्षीय नियम बनाने की प्रक्रिया में भाग लेने को लेकर हिचकिचाता रहा है।

विवाद निपटान व्यवस्था की मजबूती जरूरी

डब्ल्यूटीओ की विवाद निपटान व्यवस्था को उसकी सबसे बड़ी उपलब्धियों में गिना जाता है। लेकिन वर्ष 2017 से यह व्यवस्था गंभीर संकट का सामना कर रही है। उस समय अमेरिका ने अपील निकाय में नई नियुक्ति रोक दी थी। इसके कारण विवादों पर अपील सुनने वाली व्यवस्था प्रभावी रूप से ठप हो गई जो व्यापार में निष्पक्षता और समानता सुनिश्चित करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता था। इस समस्या के समाधान के लिए यूरोपीय संघ के वैकल्पिक मॉडल पर विचार किया जा सकता है। इस मॉडल में मध्यस्थता, अपील के बिना विवादों का निपटारा और फैसलों को लागू कराने की व्यवस्था जैसे विकल्प शामिल हैं। इसके लिए रचनात्मक सोच की जरूरत है। डब्ल्यूटीओ और द्विपक्षीय समझौतों के तहत व्यापारिक विवादों से निपटने का भारत को लंबा अनुभव है। इस अनुभव का उपयोग ऐसी व्यवस्था तैयार करने में किया जा सकता है, जिस पर अधिक से अधिक सदस्य देशों की सहमति बन सके।

भारत कर सकता है अगुआई

आज जरूरत इस बात की है कि भारत विश्व व्यापार संगठन को फिर से मजबूत बनाने की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग ले। यदि यूरोपीय संघ (ईयू) सहित अन्य मध्यम शक्ति वाले देश भी इस दिशा में आगे आते हैं, तब डब्ल्यूटीओ को फिर से प्रभावी बनाने की संभावनाएं बढ़ सकती हैं। इस संदर्भ में कनाडा का यह विचार गंभीरता से विचार करने योग्य है कि मध्यम शक्ति वाले देश मिलकर डब्ल्यूटीओ के पुनरुद्धार का नेतृत्व करें। भारत इस भूमिका के लिए उपयुक्त स्थिति में है।



Date: 30-10-26

शोध और नवाचार से संवरेगा भविष्य

रंजना मिश्रा

इक्कीसवीं सदी में किसी देश की ताकत का आकलन केवल उसकी अर्थव्यवस्था के आकार, सैन्य क्षमता या आबादी से नहीं, बल्कि ज्ञान-विज्ञान, मौलिक शोध और तकनीकी नवाचार में उसकी उपलब्धियों से भी होता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, अंतरिक्ष विज्ञान, जैव प्रौद्योगिकी, स्वच्छ ऊर्जा और सेमीकंडक्टर जैसी तकनीकें वैश्विक अर्थव्यवस्था की दिशा तय कर रही हैं। इनका असर राष्ट्रीय सुरक्षा से लेकर आम आदमी के जीवन तक दिखाई देता है। ऐसे में भारत को सशक्त, समृद्ध और आत्मनिर्भर बनाने के लिए शोध और नवाचार को विकास की प्राथमिकताओं में सर्वोच्च स्थान देना होगा।

भारत की उपलब्धियां इस दिशा में उम्मीद जगाती हैं। मगर सवाल है कि क्या इस प्रतिभा को मौलिक खोजों और अत्याधुनिक तकनीकों के विकास के लिए अवसर मिल रहे हैं? मोबाइल फोन से लेकर आधुनिक चिकित्सा उपकरणों, सेमीकंडक्टर और रक्षा तकनीक तक अनेक क्षेत्रों में भारत अब भी विदेशी तकनीक, उपकरणों और घटकों पर निर्भर है। घरेलू विनिर्माण को बढ़ावा देने के प्रयासों के बावजूद कई महत्वपूर्ण तकनीकों के विकास में आत्मनिर्भरता हासिल करना बाकी है। रक्षा क्षेत्र में भी स्वदेशी प्रणालियों की प्रगति के साथ कुछ जटिल उपकरणों और तकनीकों के लिए विदेशी निर्भरता बनी हुई है। यह स्थिति बताती है कि तकनीक का इस्तेमाल करने और उसका मौलिक विकास करने के बीच बड़ा अंतर है। कोई देश दूसरे की तकनीक अपनाकर आर्थिक प्रगति तो कर सकता है, लेकिन दीर्घकालीन नेतृत्व के लिए उसे अपने ज्ञान और शोध की बुनियाद मजबूत करनी ही होगी।

भारत में अनुसंधान एवं विकास पर सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 0.7 फीसद खर्च किए जाने का अनुमान लंबे समय से चिंता का विषय रहा है। इसके मुकाबले दक्षिण कोरिया और इजरायल जैसे देश अपनी अर्थव्यवस्था का कहीं अधिक हिस्सा शोध पर लगाते हैं। चीन और अमेरिका भी इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर निवेश करते हैं। अलग-अलग देशों के आंकड़ों और उनकी गणना-पद्धतियों में अंतर हो सकता है, लेकिन साफ है कि भारत को शोध में निवेश बढ़ाने की जरूरत है। विशाल आबादी, तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था और विकास संबंधी जरूरतों वाले देश के लिए शोध पर एक फीसद से कम खर्च पर्याप्त नहीं है।

विकसित अर्थव्यवस्थाओं में उद्योग जगत अनुसंधान एवं विकास पर बड़ी रकम खर्च करता है, क्योंकि नई तकनीक वहां प्रतिस्पर्धा, उत्पादकता और बाजार में टिके रहने का आधार है। भारत में भी कुछ कंपनियां इस दिशा में काम कर रही हैं, लेकिन समग्र रूप से निजी निवेश और उद्योगों की शोध क्षमता को और मजबूत करने की जरूरत है। तैयार तकनीक आयात करना या विदेशी कंपनियों से समझौते कर लेना कई बार व्यावसायिक रूप से

आसान होता है, लेकिन इससे घरेलू मौलिक शोध को अपेक्षित प्रोत्साहन नहीं मिलता। उद्योगों को विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों के साथ मिलकर दीर्घकालीन परियोजनाओं में निवेश करना चाहिए।

शोध की कमजोर बुनियाद का एक बड़ा कारण हमारी शिक्षा व्यवस्था भी है। वैज्ञानिक सोच का विकास प्रयोगशालाओं से पहले कक्षाओं में होता है, जहां बच्चों में सवाल पूछने, तर्क करने और किसी बात को प्रमाण के आधार पर परखने की प्रवृत्ति विकसित की जानी चाहिए। मगर शिक्षा का बड़ा हिस्सा अब भी पाठ्यक्रम पूरा करने और परीक्षाओं में अधिक अंक लाने तक सीमित रह जाता है। विज्ञान की पढ़ाई में प्रयोगों और व्यावहारिक गतिविधियों की कमी बच्चों की स्वाभाविक जिज्ञासा को सीमित कर देती है। जब किसी विद्यार्थी को किसी घटना के पीछे का कारण समझने के बजाय केवल परिभाषा याद करने के लिए प्रेरित किया जाएगा, तो उसमें मौलिक सोच विकसित करना कठिन होगा।

इसके अलावा, अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में प्रयोगशालाओं, आवश्यक उपकरणों और पर्याप्त शोध-वित्त की कमी है। शिक्षकों के रिक्त पद, संसाधनों का असमान वितरण और प्रशासनिक जिम्मेदारियों का बोझ भी शैक्षणिक गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं। इसका असर उन विद्यार्थियों पर अधिक पड़ता है, जिनकी प्रतिभा को आगे बढ़ने के लिए अवसरों और मार्गदर्शन की जरूरत होती है। शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्री देना नहीं, बल्कि ज्ञान का विस्तार करना, समस्याओं के समाधान खोजना और स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहित करना भी है।

समाज में सफलता की प्रचलित परिभाषा भी इस चुनौती को बढ़ाती है। अक्सर किसी युवा की उपलब्धि को उसकी नौकरी, पद और वेतन से मापा जाता है। समस्या तब पैदा होती है, जब शोध और अकादमिक करियर को अनिश्चित, कम आकर्षक या कम प्रतिष्ठित समझा जाने लगता है। प्रतियोगी परीक्षाओं और कोचिंग पर बढ़ती निर्भरता भी कई बार सीखने की प्रक्रिया को सीमित करके उसे प्रश्न हल करने और अंक जुटाने तक ले आती है।

शोध संस्थानों की प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार भी आवश्यक है। वैज्ञानिकों और शोधार्थियों का समय अनुदान संबंधी जटिल प्रक्रियाओं, खरीद की लंबी औपचारिकताओं और अनावश्यक कागजी कार्रवाई में खर्च नहीं होना चाहिए। वैज्ञानिक उपकरणों और प्रयोगों के लिए जरूरी सामग्री समय पर उपलब्ध होनी चाहिए। शोध के मूल्यांकन में केवल प्रकाशित शोधपत्रों की संख्या के बजाय उनकी गुणवत्ता, मौलिकता और सामाजिक उपयोगिता को महत्व दिया जाना चाहिए। वित्तीय जवाबदेही जरूरी है, लेकिन उसे इस तरह लागू किया जाना चाहिए कि पारदर्शिता बनी रहे और शोध कार्य भी बाधित न हो।

भारतीय मूल के अनेक वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ विदेशों में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल करते हैं। इसे केवल देश छोड़ने की प्रवृत्ति के रूप में देखने के बजाय उन परिस्थितियों को समझना जरूरी है, जिनमें प्रतिभाएं बेहतर संसाधनों, स्वतंत्रता और अवसरों की तलाश करती हैं। भारत में उन्हें अत्याधुनिक प्रयोगशालाएं, प्रतिस्पर्धी शोध-अनुदान, योग्य मार्गदर्शन और संस्थागत स्वायत्तता मिले, तो देश के भीतर ही विश्वस्तरीय शोध का वातावरण

मजबूत हो सकता है। अंतरराष्ट्रीय सहयोग और वैज्ञानिकों का आवागमन भी ज्ञान के विस्तार में मदद कर सकता है।

भारत के पास युवा आबादी, व्यापक वैज्ञानिक आधार और बड़ी घरेलू अर्थव्यवस्था जैसी महत्वपूर्ण ताकतें हैं। जरूरत इनका इस्तेमाल दूरदर्शी शोध नीति के साथ करने की है। सरकार को अनुसंधान पर निवेश बढ़ाने, निजी क्षेत्र को भागीदार बनाने, स्कूली शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने और विश्वविद्यालयों को शोध के अनुकूल संसाधन देने की दिशा में ठोस कदम उठाने होंगे। साथ ही, वैज्ञानिकों को प्रशासनिक बाधाओं से मुक्त करते हुए जवाबदेही और स्वतंत्रता के बीच संतुलन बनाना होगा। आत्मनिर्भरता का अर्थ केवल देश में वस्तुओं का उत्पादन करना नहीं, बल्कि उन तकनीकों और ज्ञान का विकास करना भी है जिन पर भविष्य की अर्थव्यवस्था और सुरक्षा निर्भर करेगी। भारत को यदि वैश्विक स्तर पर मजबूत और प्रभावशाली बनना है, तो उसे तकनीक का बड़ा उपभोक्ता बने रहने से आगे बढ़कर उसका निर्माता और मौलिक ज्ञान का सृजक बनना होगा। यह लक्ष्य तभी हासिल होगा, जब शोध और नवाचार को नीतियों, शिक्षा, उद्योग और सामाजिक सोच के केंद्र में रखा जाएगा।



Date: 30-10-26

चक्रवात से सबक

संपादकीय

बंगाल की खाड़ी से उपजे चक्रवात अर्नब की वजह से आधे से ज्यादा भारत में मौसम बिगड़ा हुआ है। कहीं तेज हवाएं चल रही हैं, कहीं बादल छाए हुए हैं, तो कहीं बारिश हो रही है। भारतीय मौसम विभाग ने देश के करीब 14 राज्यों के लिए चेतावनी जारी कर रखी है। हालांकि, चक्रवात अर्नब का सर्वाधिक असर आंध्र प्रदेश, ओडिशा, छत्तीसगढ़ और तेलंगाना में सबसे ज्यादा दिखा है। ओडिशा सरकार ने पूरी तैयारी दिखाई है, तो वहां किसी की भी जान नहीं गई है, जबकि आंध्र प्रदेश के तटीय जिलों में कम से कम पांच लोगों की मौत की दुखद सूचना है। आंध्र प्रदेश में चक्रवाती तूफान एवं बारिश की वजह से करीब 15,000 बिजली के खंभे उखड़ गए हैं। वहां करीब 3.45 लाख किसान प्रभावित हुए हैं और 14 जिलों के 2,24,489 हेक्टेयर में खड़ी फसलें पानी में डूब गई हैं या खराब हो गई हैं। वैसे, ओडिशा और आंध्र प्रदेश सरकारों की तारीफ होनी चाहिए, इन्होंने समय रहते बचाव के इंतजाम किए हैं और हजारों गांवों को खाली करवाया है। वाकई, जान के नुकसान को कम से कम रखना सरकारों की प्राथमिकता होनी चाहिए।

ओडिशा में भारी बारिश के कारण अनेक जगह भूस्खलन हुआ है, सड़कें जलमग्न हुई हैं और पेड़ उखड़ गए हैं। इसके बावजूद वहां कोई हताहत नहीं हुआ है, तो इस कामयाबी से सीखने की जरूरत है। जिस तरह से जलवायु परिवर्तन हो रहा है, उससे तूफानों या चक्रवातों की संख्या बहुत बढ़ी तो नहीं है, लेकिन उनकी आक्रामकता बढ़ती जा रही है। ऐसे में, हमारे पास सावधान और तैयार रहने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। नीति के तहत पहले जनहानि को बचाना और उसके बाद अन्य प्रकार के नुकसानों को रोकने के पुख्ता इंतजाम होने चाहिए। यह भी एक बड़ी चिंता की बात है कि ऐसे चक्रवात आमतौर पर अप्रैल-मई में देखे जाते थे। क्या मौसम के साथ आपदाओं का चक्र भी बदल रहा है? आपदाएं पहले की तुलना में ज्यादा घातक हो रही हैं? हम यह देख पा रहे हैं कि भारत ही नहीं, विकसित देशों को भी आपदाओं का सामना करने में अब बहुत चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। ध्यान रहे, पर्यावरण को लगातार हो रहे नुकसान की वजह से धरती का तापमान बढ़ रहा है, जिससे समुद्री जल गर्म हो रहा है और वहां से उठने वाली आपदाओं की तीव्रता बढ़ रही है। यह अल नीनो वर्ष है और इसके दौरान महासागरीय बेसिन में उष्ण-कटिबंधीय चक्रवात कम बार आते हैं और उनकी तीव्रता भी कम होती है, लेकिन चक्रवात अर्नब ने इस आकलन को धता बता दिया है।

सनद रहे, अल नीनो वर्ष में भारी वर्षा, तूफान, चक्रवात, आगजनी, बाढ़ इत्यादि का खतरा ज्यादा मंडराएगा। संतोष की बात है कि हम इसके लिए बहुत हद तक तैयार नजर आ रहे हैं। ऐसी आपदाओं के समय केंद्र सरकार को राज्य सरकारों के साथ मिलकर हर मुमकिन प्रबंध करने चाहिए और ऐसे प्रबंधों के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। सराहनीय बात है कि राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया बल व राज्य आपदा प्रतिक्रिया बल की टीमों को समय रहते तैनात किया गया और प्रभावित राज्यों में बचाव व राहत अभियान युद्ध स्तर पर चल रहे हैं। नुकसान का यथोचित आकलन करके मुआवजा देने की प्रक्रिया भी शुरू होनी चाहिए। आंध्र प्रदेश सरकार मृतकों के परिजन को पांच-पांच लाख रुपये दे रही है, लेकिन उसे अध्ययन करना चाहिए, चेतावनी के बावजूद पांच लोगों की मौत कैसे हुई? बचाव के इंतजाम कैसे अधूरे रह गए? आपदा प्रबंधन में दिखी कमियों को दोहराने से बचना होगा।

Date: 30-10-26

दवाओं की कीमतों पर लगाम जरूरी

संघमित्रा शील आचार्य, (प्रोफेसर, जेएनयू)



कैंसर के इलाज में इस्तेमाल होने वाली कई दवाओं की कीमतों में 93 फीसदी तक की कमी इसके मरीजों को बड़ी राहत पहुंचाएगी। भारत में कैंसर की दवाओं और इलाज पर एक मरीज औसतन 3.15 लाख रुपये सालाना खर्च करता है, जो इस बीमारी की गंभीरता के हिसाब से इससे अधिक भी हो सकता है। इसमें दवा की हिस्सेदारी 50 से 60 फीसदी तक हो सकती है। जाहिर है, राष्ट्रीय औषधि मूल्य निर्धारण प्राधिकरण यानी एनपीपीए द्वारा 543 दवा ब्रांडों और उनकी अधिकतम खुदरा कीमतों में किया गया यह बदलाव मरीजों और उनके परिवार के आर्थिक हितों की रक्षा करेगा। माना जा रहा है, इससे कैंसर मरीजों की सालाना करीब 2,500 करोड़ रुपये तक की बचत हो सकेगी।

यह पहल सर्वोच्च न्यायालय की 27 अक्टूबर, 2026 की उस टिप्पणी के संदर्भ में की गई जान पड़ती है, जिसमें उसने सवाल किया था कि केंद्र सरकार दवाओं की अधिक व्यापक श्रेणी को मूल्य नियंत्रण के दायरे में लाने के प्रति अनिच्छुक क्यों है? उसने यह भी कहा था कि दवा उद्योग की वृद्धि को लेकर चिंताएं इस बात का आधार नहीं बन सकतीं कि मरीजों को ऐसी दवाओं की ऊंची कीमतों का सामना करने के लिए छोड़ दिया जाए, जो उनकी खरीद-लागत से सैकड़ों गुना अधिक हो सकती हैं।

वास्तव में, न्यायालय ने उस समस्या की ओर ध्यान खींचा था, जिसे सार्वजनिक स्वास्थ्य से जुड़े संगठन लंबे समय से उठाते आ रहे हैं। दवाएं और 'मेडिकल कंज्यूमेबल्स', यानी चिकित्सा उपयोग की वस्तुएं मरीजों को उस कीमत से 300 से 700 प्रतिशत या उससे भी अधिक मूल्य पर बेची जाती हैं, जिस कीमत पर अस्पताल या खुदरा विक्रेता उनको खरीदते हैं। संभवतः इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय ने दवाओं की अत्यधिक कीमतों के बने रहने में सरकार की भूमिका पर चिंता जताई थी।

यह कोई छिपी बात नहीं है कि दवाओं की खरीद-कीमत और मरीजों द्वारा चुकाई जाने वाली कीमत के बीच बड़ा अंतर दवा कंपनियों के पक्ष में जाता है। ऐसी स्थिति में दवाओं के मूल्य निर्धारण में राज्य की प्रभावी भूमिका आवश्यक है। राष्ट्रीय औषधि मूल्य निर्धारण प्राधिकरण ही वह निकाय है, जिसे दवाओं की कीमतों को नियम-व्यवस्था के अधीन रखने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। हालांकि, कैंसर की दवाओं को लेकर उसने अब पहल की है, पर सवाल बना हुआ है कि उत्पादन-प्रक्रिया से लेकर मरीजों तक तमाम दवाओं के पहुंचने के दौरान कीमतों में बने रहने वाले बड़े अंतर को वह ढंग से नियंत्रित क्यों नहीं कर पा रही है?

केवल एक बीमारी पर विशेष ध्यान देने वाली नीति से पक्षपात का आरोप लग सकता है। सरकार को इस बारे में नीतिगत पहल करनी चाहिए, अन्यथा सवाल उठेगा कि क्या नए फैसले किसी विशेष क्षेत्र को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से तो नहीं लिए जा रहे हैं? दूसरी बीमारियों की उपेक्षा करने का कोई औचित्य नहीं दिखता, विशेषकर

तब, जब उनके उपचार में प्रयोग होने वाली दवाओं की कीमतें और उपलब्धता के संबंध में भी समान रूप से हस्तक्षेप किए जाने की दरकार है।

यहां गणपति मुदुर द्वारा साल 2006 में 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल' (बीएमजे) में प्रकाशित शोध 'इंडियन हेल्थ एक्टिविस्ट क्रिटिसाइज वॉलेंटरी प्राइस कट्स बाई ड्रग इंडस्ट्री' की चर्चा लाजिमी है, जो इस मुद्दे पर महत्वपूर्ण नजरिया हमारे सामने रखता है। इसमें बताया गया है कि भारत की कुछ सबसे बड़ी दवा कंपनियों ने 886 औषधि फॉर्मूलेशन की कीमतों में कटौती की, ताकि दवा की कीमतों को प्रभावित किया जा सके। इस कदम को स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने औषधि उद्योग की ऐसी रणनीति के रूप में देखा, जिसका उद्देश्य प्रभावी और सार्थक मूल्य नियंत्रण से बचना था।

इस संदर्भ में जन-स्वास्थ्य अभियान जैसे स्वास्थ्य कार्यकर्ता समूहों का यही मानना है कि कुछ गैर-अनुसूचित दवाओं (जैसे कुछ कैंसर-रोधी दवाएं) पर कारोबारी मार्जिन की सीमा तय करना निस्संदेह अच्छा कदम है, लेकिन सिर्फ यही पर्याप्त नहीं है। कीमतों में की जाने वाली कमी का प्रभाव आमतौर पर जेनेरिक दवाओं पर अधिक पड़ता है, जबकि महंगी पेटेंट-प्राप्त दवाएं या मूल ब्रांड की दवाएं इससे अछूती रह सकती हैं। इसलिए 'कॉस्ट-बेस्ड प्राइसिंग', यानी लागत आधारित मूल्य निर्धारण की आवश्यकता अधिक है। स्वास्थ्य कार्यकर्ता इस बात पर बल देते हैं कि दवाओं की कीमतों की अधिकतम सीमा केवल बिचौलियों के लाभांश में कमी के आधार पर तय नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसे दवाओं की वास्तविक निर्माण व उत्पादन लागत से सीधे जोड़ा जाना चाहिए।

बेशक, केंद्र सरकार दवा की कीमतों को कम करने के प्रयास कर रही है। 'प्रधानमंत्री जन औषधि केंद्र' की परिकल्पना भी इसीलिए की गई, ताकि दवाएं सस्ती कीमतों पर उपलब्ध हो सकें। हालांकि, लोगों में अब भी जेनेरिक दवाओं को लेकर उलझन बनी हुई है, जिसको दूर करने के प्रयास किए जाने चाहिए। जरूरत यह भी है कि ऐसी दुकानें सुदूर इलाकों तक पहुंचें।

फिलहाल, कुछ दवाओं की कीमतें जरूर कम हुई हैं, लेकिन ऐसे प्रयास यदि समावेशी दृष्टिकोण पर आधारित नहीं होंगे, तो स्वास्थ्य सेवाओं और उपचार को अधिक किफायती बनाने का मकसद अधूरा रह जाएगा। जरूरी है कि ऐसे प्रयासों का लाभ हर मरीज तक, फिर चाहे वह किसी भी बीमारी से ग्रसित हो, समान रूप से पहुंचे। अगर ऐसा नहीं होगा, तो चयनात्मक नीतियां नीति-निर्माताओं, न्यायालयों, दवा उद्योग के प्रतिनिधियों और स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के बीच गंभीर बहस को जन्म देती रहेगी। एक प्रभावी नियामक व्यवस्था को दवा उद्योग की आर्थिक व्यावहारिकता और मरीजों के स्वास्थ्य संबंधी अधिकारों के बीच संतुलन बनाना ही चाहिए। जन-स्वास्थ्य के नजरिये से भी दवाओं तक पहुंच सामाजिक न्याय के व्यापक उद्देश्यों के अनुरूप आवश्यक है।

अतः दवा मूल्य निर्धारण की नीति केवल चुनिंदा दवाओं या बीमारियों तक सीमित न रहे, बल्कि यह नीति सभी आवश्यक दवाओं के लिए सुनिश्चित की जाए। इसमें दवाओं की वास्तविक उत्पादन लागत, निर्माताओं और वितरकों के लाभांश, बाजार में मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया, दवाओं की उपलब्धता और मरीजों की भुगतान-क्षमता

को समग्रता में देखना चाहिए। प्रभावी मूल्य-नियंत्रण का मूल उद्देश्य केवल कीमतों में कमी करना नहीं, बल्कि यह सुनिश्चित करना होना चाहिए कि आवश्यक व जीवन-रक्षक दवाएं सभी मरीजों को सुलभ और सस्ती कीमतों पर मिलें।
